



प्रगतिशील कविता में मानवीय अस्मिता

काजल भारद्वाज
शाधार्थी हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय Kajalbhardwajamu@gmail.com 9634990767

समकालीन शब्द शाब्दिक अर्थ है—जो इस काल में है। परंतु इस अर्थ से उस युग की प्रवृत्तियों का बोध नहीं होता, केवल इतना बोध होता है कि कोई भी रचना या घटना उसी समय की है जिस दौर में घटी या रची गई। इस अर्थ में हमारे समय की महत्वपूर्ण समस्याओं को साहित्य में लाने वाली कविता भी हमारी समकालीन है और इन केंद्रीय समस्याओं से कटी अपने ही कल्पना लोक से विचरण करने वाली कविता भी हमारी समकालीन है परंतु साहित्य में यह शब्द इस अर्थ से इतर एक भिन्न अर्थ रखता है। जैसे विश्वंभर नाथ उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'समकालीन सिद्धांत और साहित्य' में लिखा "समकालीन एक काल में साथ-साथ जीना नहीं है। समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केंद्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।" समकालीनता एक बोध है, जिसमें उस समय की आर्थिक चेतना, सामाजिक विवेक, नैतिक मूल्य सभी का संश्लेष होता है। किसी भी रचना की समकालीनता निर्धारित करने के लिए सामयिक चिंतनधाराओं को समझना बेहद जरूरी है क्योंकि इन चिंतनधाराओं और विचारों का निर्माण तात्कालिक युग की अंतर्दशा से होता है। यह चिंतनधारा ही कविता को जीवन से जोड़ती है, यही उस कविता का जीवन-बोध भी कहलाता है। समकालीन कविता का यही जीवन बोध उसकी प्रगतिशील चेतना का मूलाधार है। प्रगतिशील कविता का मूल स्वर मनुष्य को उसकी सारी संवेदनाओं के साथ साहित्य में उपस्थित करता है, यह कविता समाज के उस वर्ग का नेतृत्व करती है जो हाशिए पर है, जिसे प्रताड़ित किया गया है। इसी कारण यहां हाशिए की अस्मिता का सवाल बड़ी शिद्दत से उठाया गया है। अस्मिता मनुष्य की सामाजिक अवस्थितियों पर निर्भर करती है। यद्यपि अस्मिता से जुड़े इन सवालों को विभिन्न विषयों के रूप में पहले भी कविता में उठाया जाता रहा है परंतु आज की समकालीन प्रगतिशील कविता में विचार और भाव में समन्वय की रूढ़ि के कारण मनुष्य की और कविता की भूमि में अंतर नहीं रह गया, इसी कारण यहाँ इन विमर्शों का सामूहिकतावादी स्वरूप अन्वेषित कर लिया गया है इसीलिए विमर्शों की अब कविता में पृथकता नहीं रह गई। कविता अब जीवन के हर पक्ष से विषय चुन रही है। यह स्थिति अस्मिताओं के पक्ष में है। मानवीय अस्मिता के फलक पर अब हम उस वर्ग को देखते हैं जो हाशिए पर है तो स्त्री अस्मिता का सवाल पहले कौंधता है। यद्यपि कविता में स्त्री की अस्मिता के प्रश्न पहले भी उठाए जाते रहे हैं परंतु परोक्ष रूप से उन प्रश्नों में भी स्त्री के अपने अस्तित्व से अधिक पितृसत्तात्मक समाज

के हितों पर ध्यान रखा गया यथा आधुनिक युग में स्त्री शिक्षा पर बल दिया गया परंतु उसकी आवश्यकता मात्र इतनी समझी गई कि वह स्वयं शिक्षित होकर अपनी संतान को शिक्षित बना सकेगी। परंतु आज स्थिति बदल चुकी है अब स्त्री स्वयं को रच रही है और समाज के साथ-साथ साहित्य में भी बराबर का दखल दे रही है। समकालीन कविता में जब स्त्री ने स्वयं को रचा तो कवियों द्वारा बनाई गई मध्यकालीन स्त्री की उस छवि को तोड़ा जो उसके भाग की वस्तु और श्रृंगार की प्रतिमा बना रही थी। अनामिका स्त्री की कवियों द्वारा बनाई गई उस मध्यकालीन छवि को तोड़ती हुई कहती है—

“आचार्य, हम इनमें से कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं

मुग्धा, विदग्धा या सुरतिगर्वित परकीया भी नहीं. न स्वीकाया ही

मुग्धाएं जब भी हम
देनी थी हमको परीक्षाएं
बोर्ड के सिवा भी कई....”

हमारे समाज और साहित्य ने स्त्री के लिए कुछ खांचे तैयार किए जिसके तहत ‘आदर्श स्त्री’ का मिथ बनाया गया, जहाँ कुछ नियमों के निर्धारण के भीतर आचरण न करने वाली स्त्री के लिए कई विशेषण भी गढ़ डाले गए। यद्यपि स्त्री से जुड़े सवाल तब भी गहरे थे जब उन्हें सुना नहीं गया, समाज में धर्म के नाम पर सती सावित्री, सीता आदि के आचरण का उदाहरण दिया गया परंतु अस्तित्व के बोध को लेकर चलते उनके द्वन्द्व को कभी इन कथाओं में स्थान नहीं दिया गया। वास्तव में यदि इन पात्रों के स्वयं के अस्तित्व बोध और विद्रोह को प्रकट कर दिया जाता तो शायद यह पितृसत्तात्मक समाज के बनाए आदर्श के मानक में फिट न बैठ पातीं। समकालीन कवि पवन करण ने अपने काव्य संग्रह ‘स्त्री शतक’ में भारतीय धर्म, इतिहास, आख्यान के स्त्री पात्रों की वेदना, अस्तित्व के संकट, द्वन्द्व को आज के स्त्री प्रश्नों के आधार पर बहुत ही मार्मिकता के साथ उकेरा है। पृथ्वी के पहले राजा पृथु की पत्नी अर्ची के सती होने के समय उनके मानसिक द्वन्द्व का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“इस समय कोई नहीं हमारे बीच
एक और तुम्हारी चिता है और दूसरी तरफ मैं
मगर रीत यही है

प्रथा, हाथ पकड़ कर मेरा
मुझे आग की तरफ खींच रही है मन में आ रहा है कि उसका
हाथ झटक दूँ मगर मैं बचकर
किस-किस को समझाऊंगी।”

यह कविता की मांग भी है कि ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं का अपनी समकालीनता के आधार पर पुनर्पठि हो, इस दृष्टि से यह संग्रह महत्वपूर्ण है। यद्यपि आधुनिक विमर्श से जुड़े रचनाकारों की ‘अनुभूति की प्रामाणिकता’ के आधार पर इस संग्रह का स्त्री विमर्श में प्रामाणिकता की काटी में न रखा जाए परंतु इतिहास और आख्यान के स्त्री पात्रों की अस्मिता बोध उनके द्वन्द्व में जोड़कर की गई नवीन व्याख्या है, जो समकालीन स्त्री विमर्श में एक नए प्रश्न को आधार आवश्यक देती है। समकालीन कविता में जहाँ परंपरागत छवि को तोड़ने वाली स्त्री है तो वहीं नई राह खोजने वाली आत्मनिर्भर और स्वतंत्र स्त्री भी है। लेकिन समाज का इस नई

स्त्री की छवि आज भी पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं है, जो उस पुरानी रूढ़ियों को बताते धता हुए नए विचारों के साथ आ धमकती है। यह स्त्री पुरुष विरोधी नहीं है बल्कि वह पुरुष की उस मानसिकता के विरोध में है जो पुरुष को किसी भी तरह अपनी सर्वोच्चता का दंभ से मुक्त नहीं होने देती। आज की स्त्री में भी प्रेम, मातृत्व गुण उसी प्रकार हैं। इस संदर्भ में अनामिका लिखती है।

“मां! भूख लगी है
इस सनातन वाक्य में
एक स्प्रिंग है लगा कितनी भी आलसी हो मां
वह उठ कर बैठती है
और फिर कनस्ता खड़कते हैं।”

आज की स्त्री यूँ तो आत्मनिर्भर है परंतु घर परिवार व समाज में आज भी उनका शोषण कायम है। शोषण के तरीके अपेक्षा त बदलने लगे हैं, आत्मनिर्भर होने के पश्चात भी वह परिवार में दोगम दर्ज की ठहराई जाती है। आज भी भारतीय समाज और परिवार में थोड़े बहुत फर्क के साथ 'जेण्डर स्टीरियोटाइप्स' में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आज स्त्री पहले की अपेक्षा त कुछ आत्मनिर्भर और स्वतंत्र दिखाई देती है।

परंतु यह परिस्थिति भी पूरा सत्य नहीं है। यह शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री की अस्मिता के पक्ष का भले ही दिखा दे परंतु पितृसत्तात्मक परिवार की रूढ़ियों के बोझ तले दबी अशिक्षित (या शिक्षित भी) स्त्री के लिए समाज में जटिलताएं कम नहीं हुई हैं। यह स्त्री राजनीति का शिकार भी होती है। जहां स्त्री मुक्ति के मुद्दों को उठाकर राजनीति तो की जाती है परंतु उनकी मंशा वास्तविक हितों की ओर ध्यान न देकर अपनी स्वार्थ की राजनीति की ओर होती है इस स्थिति को निर्मला पुतुल अपने शब्दों में कहती है—

“एक बार फिर
शब्दों के उड़न-खटोले पर बिठा वसे जाएगी हमें, संसद के
गलियारों में जहां पुरुषों के अहम से
टकराएंगे हमारे मुद्दे और चनाचूर हो जाएंगे
उसमें निहित हमारे सपने”

सामाजिक धरातल पर देखा जाए तो स्त्री को गढ़ने का काम हमारा समाज आरंभ से ही करता है। सिमोन द बोउआर की यह उक्ति कि “स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती है।” आज भी सामाजिक जटिलताओं के बीच जो जूझती स्त्री को समझने के लिए आवश्यक है। जिसमें स्त्री के लिए समाज के सारे नियम पुरुष के बनाए हुए हैं। इन नियमों के आधार पर ही स्त्री का वह स्त्री बनाया जाता है जो समाज की परिकल्पना में गढ़ी हुई है। परिवार, समाज, कार्य क्षेत्र, सभी जगह स्त्री को अपनी अस्मिता के लिए दोहरे-तीसरे मोर्चे पर संघर्ष करना पड़ रहा है। यह सत्य है कि किसी भी समाज की सोच में परिवर्तन इतनी आसानी से नहीं आता। स्त्री या पुरुष के वर्चस्व बोध से ऊपर उठकर मनुष्य के रूप में परिवार और समाज में सहभागिता को प्रश्रय देना अपेक्षित है। समकालीन प्रगतिशील कविता का केंद्रीय सरोकार आम आदमी है। इस आम आदमी में अपनी समस्याओं से जूझता दलित वर्ग भी अपनी अहम हिस्सेदारी रखता है। इस कारण दलित अस्मिता समकालीन कविता का महत्वपूर्ण विषय है। यहां दलित विमर्श को नारे के रूप में नहीं लिया गया बल्कि समाज में दलितों के प्रति चेतना में बदलाव लाने का प्रयास किया गया है। दलित शब्द को लेकर भी रचनाकारों की अपनी-अपनी

राय है, जयप्रकाश कर्दम इस संदर्भ में लिखते हैं—“वामपंथी साहित्यकारों की दृष्टि में दलित का अभिप्राय सर्वहारा है तो, दक्षिणपंथी साहित्यकारों की दृष्टि में भी दलित का अर्थ गरीब है अर्थात् आर्थिक रूप से वंचित और शोषित है वह दलित है। इन दोनों ही वर्गों के साहित्यकारों के दलित संबंधी चिंतन में जाति महत्वपूर्ण फ़ैक्टर नहीं है जबकि जाति के कारण ही समाज का एक बड़ा वर्ग सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार से वंचित उपेक्षित, शोषित, उत्पीड़ित और अस्पृश्य तथा दमन और दलन का शिकार रहा है।” यहाँ दलित का अर्थ जातिगत दलित से ही है इसमें श्रमिक, गरीब या मजदूर वर्ग को सम्मिलित नहीं किया गया। हिंदी साहित्य में दलित चिंतन के बीज यद्यपि संत साहित्य, नाथ और सिद्ध साहित्य में भी मिलते हैं और कुछ दलित चिंतक इस साहित्य को दलित कविता की पृष्ठभूमि के रूप में मानते हैं परंतु ओम प्रकाश वाल्मीकि इसे नहीं मानते उन्होंने अपनी पुस्तक ‘दलित साहित्य: अनुभव संघर्ष एवं यथार्थ’ में बताया है कि दलित साहित्य हमेशा समाज के सामंतवादी ढांचे के खिलाफ रहा है परंतु संत साहित्य में ईश्वर और भक्तों का संबंध दास और मालिक के जैसा ही है यद्यपि यह कविता किसी सामंतवादी ढांचे को नहीं तोड़ती। वाल्मीकि जी का यह तर्क कविता के रूप को लेकर तो सही है परंतु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि दलित साहित्य संत साहित्य में नहीं मिलता क्योंकि कबीर और रैदास दोनों ही संत कवियों ने जाति को निस्सार बताते हुए व्यवस्था का विरोध अवश्य किया है। जहाँ कबीर ने कहा “संतन जात ना पूछो निरगुनियां” तो वही रैदास ने कहा “रविदास जनम के कारनै होत न कोउ नीच” यहाँ जाति को नहीं मनुष्य के कर्म को महत्व दिया गया है। इसके पीछे उनकी स्वाभिमान चेतना रही होगी। संभवतः उनका उद्देश्य दलितों को हीनता के बोध से ऊपर उठाना रहा होगा। मध्य काल से ही इस व्यवस्था का विरोध होता आ रहा है परंतु यह भी सत्य है कि आज भी देश में इस व्यवस्था के पोषक बड़ी संख्या में हैं इन्हीं के कारण जाति के आधार पर सम्मान पाने वाला वर्ग जाति का प्रतिकार करने की अपेक्षा उस पर गर्व करता है और दलितों के साथ घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करता है। दलित कवि मलखान सिंह इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

“मैं इस देश में जहाँ भी रहता हूँ आदमी मुझे नाम से नहीं जाति से पहचानता है और जाति से सलूक करता है।”

यहाँ जाति ही मनुष्य के प्रति व्यवहार का निर्धारण करती है। दलित कविता शोषण के शिकार बने व्यक्ति का वास्तविक बयान है। अधिकतर दलित लेखकों का अपना जीवन ही रचना की पृष्ठभूमि बना है। उनके जीवन के गहन अनुभव दलित कवि को सामाजिक मान्यताओं, रुढ़ियों तथा मूल्यों की समीक्षा करने की सम्यक दृष्टि देते हैं। अपने सम्यक दृष्टिकोण से वह इतिहास और पुराण की पुनः किंतु सर्वथा नवीन व्याख्या कर रहे हैं। ‘शबूक की हत्या’ और ‘द्रोणाचार्य सुने’ उनकी परंपराएँ सुनें” जैसी कविताएँ इसका सशक्त उदाहरण हैं। दलित साहित्य सामाजिक सरोकारों की ईमानदारी से युक्त अभिव्यक्ति है। पुराण और इतिहास में अस्पृश्यता अन्याय के शिकार बने पात्र शबूक, एकलव्य, कर्ण आदि को दलित रचनाकार विद्रोही प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता ‘वह दिन कब आएगा’ इन पात्रों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की मांग करती है।

वह दिन कब आएगा
 बामनी नहीं जनेगी बामन चमारी नहीं जनेगी चमार
 भंगिन भी नहीं जनेगी भंगी।
 तब नहीं चुभेंगे जातीयहीनता के दंश नहीं मारा जाएगा तपस्वी
 शंबूक नहीं कटेगा एकलव्य का अंगूठा
 कर्ण होगा नायक,
 एसे दिन कब आएगा”

शोषित, पीड़ित व्यक्ति के संघर्ष पर सिर्फ दलित ही नहीं बल्कि कई गैर दलित लेखकों ने भी लिखा है किंतु उनकी संवेदना में दया, करुणा और सहानुभूति अधिक है, आक्रोश अपेक्षा” त कम। दलित रचनाकार इस ‘स्वानुभूति और सहानुभूति’ का अंतर मानते हैं। दलित लेखक के लिए यह स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है, मात्र कविता करने के लिए दलित कविता नहीं है। इसी कारण वे गैर दलित लेखकों द्वारा लिखे गए दलित चेतना परक साहित्य का नकारते हैं। जयप्रकाश कर्दम इस संदर्भ में लिखते हैं “दलितों के प्रति गैर दलितों की सहानुभूति भी किसी काम की नहीं है यदि उन्हें दलित के दर्द की वैसी ही अनुभूति ना हो जैसी दलित को होती है। दलित साहित्य परंपरागत साहित्य के मानदंडों का भी प्रतिकार करता है। उनके अनुसार दलित साहित्य उनके शोषण की चीख का साहित्य है इसके लिए परंपरागत साहित्य के मानक किसी काम के नहीं।” मोहनदास नैमिशराय राय की कविता ‘झाड़ू और कलम’ परंपरागत साहित्य पर दलित साहित्य के इस प्रहार को व्यक्त करती है—

“कल मेरे हाथ में झाड़ू था आज कलम
 कल झाड़ू से मैं तुम्हारी गंदगी हटाता था
 आज कलम से मैं तुम्हारे भीतर की गंदगी धोऊंगा... तुमने गंदगी फैलाने के लिए
 वदे
 पुराण
 मनुस्मृति का सहारा लिया
 कल उन्हें जलाने का मुझे अधिकार न था
 आज शब्दों की आंच से
 मैं उन्हें जलाऊंगा।”

दलित साहित्य में दलित स्त्री की समस्याएं भी निहित हैं। दलित स्त्री दोहरा शोषण का शिकार है, पहला जाति दूसरा पितृसत्ता का। घर और समाज का शोषण चक्र उसके चोटता है। दलित स्त्री रचनाकार की यह लड़ाई भी दोहरा स्तर की है सुशीला टाकमोरे पुराण और साहित्य में वर्णित मर्यादा पुरुषोत्तम को अपनी कविता ‘पीड़ा की फसलें’ में कठघरे में खड़ा करते हुए कहती है—

“ओ शबरी के राम आंखें चुरा कर
 संवेदना दिखाना बंद करो तुम्हीं ने सीता को
 धरती में समा जाने को मजबूर कर दिया था तब से
 विश्वास, भक्ति और प्रेम संपगनी सीता बार-बार
 धरती में दफनाई जाती रही है इसीलिए
 पीड़ा की फसलें उगती रही है।”

धर्म और संसृति के साथ-साथ राजनीति में भी दलितों को लेकर सत्ता धारियों ने अपना स्वार्थ साधा, क्योंकि भारतीय समाज व्यवस्था का सबसे घृणित रूप एक जाति का दूसरी से नीचा मानना है। यहां तथाकथित नीची कहे जाने वाली जाति भी खुद से नीची कोई ना कोई जाति ढूंढ ही लेती है। इसी जातिवाद के कारण पीड़ितों को भी धर्म और जाति के नाम पर विभाजित किया जाता है। यह वोट बैंक की राजनीति है। यहां धर्म आधारित हिंसा और उससे उपजी सांप्रदायिकता हथियार बनती है। जाति और सांप्रदायिकता की इस राजनीति का भी अपना एक अर्थशास्त्र है, जहां मूलभूत सुविधाओं के साथ सभी वर्ग असन से रहने लगेंगे वहां शोषित तबका रोटी से बढ़कर भी अपने हितों और अधिकारों के बारे में सोचने लगेगा और इस आधार पर शोषितों की एक वर्ग एकता भी बनने लगती है। यह स्थिति सत्ता के लिए हानिकारक हो सकती है, धार्मिक उन्माद और सांप्रदायिक दंगे इस संकट की स्थिति में उनका हथियार बनते हैं। व्यावहारिक राजनीति में जिस दलित मुस्लिम एकता की संभावनाएं तलाशी जाती हैं दलित कवयित्रियों की राह भी उससे भिन्न नहीं है। अन्याय और शोषण को झेलने वाले दूसरे किसी भी प्रकार के शोषित, वंचित या हाशिए के समुदाय से तादात्म्य स्थापित कर उस अभिव्यक्ति दे रही है। इस प्रकार दलित साहित्य का दायरा कई मायनों में विस्तृत होने लगा है, जिसका उदाहरण हमें अनीता भारती की कविता 'रुखसाना का घर' काव्य संग्रह में देखने को मिलता है। यह कविता मुजफ्फरनगर दंगों से सदर्भित है।

“रुखसाना। तुम्हारी आंखों के बहते पानी ने
कई आंखों के पानी मरने की कलाई खोल दी है।”

समकालीन दलित कविता अपने समय तथा अपने जीवन यथार्थ का बहुत ही ईमानदारी से अभिव्यक्त कर रही है। जनवादी-लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना उसका लक्ष्य है। दलित साहित्य दलितों के अस्मिता बोध का विस्तार है, जीवन के कटु अनुभवों का यथार्थवादी ढंग से साहित्य में लाकर समकालीन दलित कवि अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता निभा रहे हैं। मानवीय अस्मिता के धरातल पर स्त्री और दलित साहित्य के पश्चात समकालीन कविता में आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न भी व्यापक स्तर पर उठाया गया। नब्बे के दशक में भारतीय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति इसका मुख्य कारण रही जिससे बाजारवाद और भूमंडलीकरण का मार्ग और प्रशस्त हुआ। मुक्त व्यापार के नाम पर मुनाफे और लूट का खेल—आदिवासियों के जंगल जमीन और जल से भी आगे जाकर उनके जीवन को दाव पर लगाकर खेला गया। जिसने आदिवासी क्षेत्रों में संघर्ष को तेज किया, इस संघर्ष में सत्ता एवं प्रशासन का रुख भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं कॉर्पोरेट जगत के पक्ष में तथा आदिवासियों के विरुद्ध ही रहा। इतने आदिवासियों के अस्तित्व की अस्मिता के प्रश्न को खड़ा कर दिया, जहां विकास के नाम पर उनकी सभ्यता, संसृति, भाषा को नष्ट करने का उपक्रम किया जाने लगा। समकालीन कवि कुमार अंबुज

‘आदिवासी’ शीर्षक कविता में इसे बयां करते हैं।

यदि मैं पत्थर हूँ तो अपने आप में एक शिल्पी भी हूँ
जैसा मैं हूँ वैसा बनने में
मुझे युग लगे है हटाओ, अपनी सभ्यता की छैनी
हटाओ यह विकास के हथौड़े
मैं पत्थर हूँ पत्थर की तरह मेरी कद्र करो
टोकर जरा संभल कर मारना
पत्थर हूँ....”

यहां अपनी अस्मिता के सकंट के साथ-साथ व्यवस्था से विद्रोह भी है। इसी विद्रोह से आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण करता है। आदिवासी जन-जीवन का चित्रण करने वाले कवियों ने अधिकतर आदिवासी नायक बिरसा मुंडा, सिद्धो, कान्हों, झलकारी बाई आदि को महत्व देकर आदिवासी प्रतिरोध की परंपरा का विस्तार किया है। परंतु आदिवासियों के इस प्रतिरोध से चिंतित सत्ता इन्हें नक्सलवादी घोषित कर कुचल डालना चाहती है और यह सब हो रहा है 'विकास' के नाम पर आदिवासियों के खिलाफ हो रही इस साजिश को समकालीन कविता केवल अपना विषय ही नहीं बनाती बल्कि उनके लिए प्रतिरोध की एक जमीन तैयार करने का काम भी करती है निर्मला पुतुल इस विकास का सच बताते हुए कहती है-

“अगर हमारे विकास का मतलब हमारी बस्तियों को उजाड़ कर कल कारखाने बनाना है तालाबों को भापकर राजमार्ग जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियां बनानी है, और पुनर्वास के नाम पर हमें हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है तो तथाकथित विकास की मुख्यधारा में शामिल होने के लिए सौ बार सोचना पड़गा हमें।”

इस बाजारवाद और बाजारवादी मानसिकता के कारण स्वयं को सभ्य मानने वाले इस समाज ने आदिवासियों को भी प्रदर्शन की वस्तु बना दिया है। यून तो इस समाज की दृष्टि में यह लोग असभ्य, जंगली आदि विशेषण से नवाजे जाते हैं परंतु यही लोग किसी आदिवासी स्त्री की तस्वीर सजावट के तौर पर अपने ड्राइंग रूम में लगाने से परहेज नहीं करते। यहां यह दोहरी मानसिकता का परिचय देते हैं, जिस जीवित मनुष्य को यह समाज असभ्य मानता है उसी की तस्वीर को घर में लगाकर सभ्य और सवंदेनशील होने का प्रमाण-पत्र भी चाहता है। आदिवासी समाज जानता है कि यह सहानुभूति नहीं बल्कि सहानुभूति का छद्म है। आदिवासी स्त्रियों को तस्वीरों, कथाओं में जैसा कहा गया है कि वह हंसती है 'फेनिल दूध सी', 'जब मांदल की थाप पर नाचती है', तो आ जाता है असमय ही बसंत, यह सारी उपमाएँ उन्हें मात्र सौंदर्य (देह सौंदर्य) की वस्तु बनाती हैं जो आदिवासी स्त्री को स्वीकार नहीं। निर्मला पुतुल इसका प्रतिकार करते हुए कहती है-

“किसने कहे उनके परिचय में इतने बड़े-बड़े झूठ?
किसने? निश्चय ही वह हमारी जमात का खाया पिया
आदमी होगा... सच्चाई को धुंध में लपेटता
एक निर्लज्ज सौदागर”

आदिवासियों का अस्तित्व जंगल के अस्तित्व से एकमेक है और इसीलिए उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न जंगल के अस्तित्व की रक्षा से संबद्ध हो गया है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में जब विकास के नाम पर उन्हें उनके जंगल जमीन से बेदखल करने की कोशिश शुरू हुई तो विस्थापन उनकी केंद्रीय समस्या बन कर उभरा। विस्थापित आदिवासी महानगरों में घरेलू नौकर या दिहाड़ी मजदूर होने पर विवश हो गए, इस विस्थापन की पृष्ठभूमि में आदिवासी स्त्रियां देह में तब्दील होकर रह जाती हैं। यहां स्त्री का भी वस्तुकरण कर दिया गया है। इनके विस्थापन के साथ ही शुरू होती है आदिवासियों पर राजनीति और धर्मांतरण, और जिस पर यह राजनीति की जा रही है उसे स्वयं अपनी पहचान का बोध तक नहीं। परंतु सार नदी, जंगल, झरने जानते हैं कि ये कौन हैं। यह आदिवासियों की संसृति है, जहां प्रसृति ही उनकी पहचान है और उनकी पहचान की गवाह भी। आदिवासियों के विरोध में हो रहे इस सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता सिर्फ अपना विषय ही नहीं बनाते बल्कि उनके दमन के खिलाफ प्रतिरोध को एक सशक्त आधार भी देती करती

है। कविता में आदिवासियों को अस्मिता के प्रश्न को कुछ देर से उठाया गया यद्यपि उपन्यास में यह शुरुआत पहले ही हो चुकी थी उदाहरण स्वरूप— 'मैला आंचला' उपन्यास में फणीश्वर नाथ रेणु ने अपनी जमीन से बेदखल सथालों को अपने स्वत्व बोध के लिए संघर्ष करते दिखाया है परंतु फिर भी कुछ देर से ही सही समकालीन प्रगतिशील कविता में आकर यह विषय एक सार्थक अस्मिता बोध का प्रश्न बनकर उभरा है। जिसमें स्वयं आदिवासी कवि अपने अनुभवों को रच रहे हैं। जिससे समय इन कविता के व्यापक फलक का भी विस्तार होता गया है।

समकालीन हिंदी कविता सकारात्मक मानव मूल्यों के साथ ही मनुष्य को समग्रता में आत्मसात करती चलती है। मनुष्य की अस्मिता मानवीय मूल्यों के लिए घातक साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ सृजनात्मक मूल्यों को प्रश्रय देती है। समकालीन प्रगतिशील कविता अपने समय के मुख्य अन्तरविरोधों की कविता है। यह किसी एक विशेष विचारधारा से संबद्ध न होकर विचार समुच्चयबोधक कविता है। इसी कारण इस कविता में एक दायित्व बोध नज़र आता है जो अपने समाज, देश एवं मनुष्य की बदहाली को दूर कर लोकतांत्रिक मूल्यों के आधार पर एक ऐसे समाज की रचना के लिए प्रतिबद्ध है। जहां मनुष्य वर्गों या खाचों में विभक्त न हो, जहां प्रत्येक मनुष्य अपनी पूर्णता, स्वत्व बोध के साथ समाज में उपस्थित हो। मनुष्य और समाज को उसकी स्वाभाविक गति विकास एवं परिवर्तन की चाहत की प्रगतिशील रूढ़ि के कारण ही समकालीन कविता में अनंत संभावनाएं देखी जा सकती हैं।

सहायक ग्रंथ सूची

1. समकालीन हिंदी कविता—सं. परमानंद श्रीवास्तव
2. समकालीन सिद्धांत और साहित्य—विश्वंभरनाथ उपाध्याय
3. समकालीन कविता के बारे में—नरेंद्र मोहन
4. आधुनिकता पर पुनर्विचार—अजय तिवारी
5. समकालीन हिंदी कविता और दलित चेतना (लेख)—जयप्रकाश कर्दम
6. अनुष्ठुप (कविता संग्रह)—अनामिका
7. इस पौरुषपूर्ण समय में (कविता संग्रह)—" त्यायनी
8. शब्द (कविता संग्रह)— मोहनदास नैमिशराय
9. अपने घर की तलाश में (कविता संग्रह)—निर्मला पुतुल
10. पीड़ा की फसलें (कविता संग्रह)—सुशीला टाकभौरे